महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्त्तमान इस सर्वोदय सिद्धान्त को विनोबा भावे ने आगे बढ़ाया और भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान, समयदान, जीवनदानादि द्वारा सामाजिक विषमता को मिटाने का प्रयास किया गया। अपरिग्रह भी विषमता को मिटाकर समता की स्थापना करता है।

अपरिग्रह और समाजवाद–पदार्थ उपभोग के लिए है, संग्रह के लिए नहीं। उपभोग के लिए कोई मनाही नहीं है। किन्तु जब पदार्थों का संग्रह व्यक्ति द्वारा आवश्यकता से अधिक किया जाता है तब समाज में विषमता की स्थिति बनती है। और जब विषमता की स्थिति सीमातिक्रान्त हो जाती है तब संघर्ष और हिंसा का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे में मानव समाज दो विभागों में बंट जाता है–अमीर और गरीब। शोषक और शोषित।

अमीर-गरीब/शोषक-शोषित का संघर्ष युग-युगान्तर से चला आ रहा है और इसको मिटाने के लिए 'समाजवाद' की स्थापना भी की गयी। समाजवाद सिद्धान्त रूस से गतिशील हुआ। जिसमें समान हक की बात कही गयी और शोषित अपने हक की प्राप्ति के लिए संघर्ष के रास्ते हिंसा के मैदान में आ डटे। इसकी परिणति यह हुई कि समाजवाद एक हिंसक आन्दोलन में परिवर्तित हो गया। समाजवाद की परिकल्पना का मूल भी 'अपरिग्रहवाद' ही रहा है। किन्तु जिस मार्ग का अवलम्बन समाजवाद ने लिया, उस मार्ग का 'अपरिग्रहवाद' निषेध करता है। अपरिग्रहवाद अहिंसक राह से समाजवाद की मंजिल पाने का निर्देश करता है।

समतावादी समाज रचना–पूँजीपति और शोषितों का जो संघर्ष है, वह है पदार्थों के परिग्रह को लेकर। एक ओर जीवन के आवश्यक साधनों का ढेर लगता चला गया और दूसरी ओर अभावों की खाई निर्मित होती गयी। ऐसी स्थिति में जो संघर्ष की स्थिति बनती है, उससे शांति नहीं अपितु अशांति का ही निर्माण होता है। द्वंद्व/संघर्ष की इस स्थिति में भी मनुष्य को अपना विवेक नहीं खोना चाहिए। विवेक दीपक से विषमता का अंधकार नष्ट करके समता का प्रकाश फैलाना चाहिए। विवेक विकलता में विषमता नष्ट नहीं होती है अपितु और अधिक बढ़ती ही है। किन्तु जब समता का आंचल थाम लिया जाता है तब शांति की वर्षा होने लगती है। समता/समभाव अपरिग्रहवाद की पहली शर्त है क्योंकि समभाव के बिना 'अपरिग्रहवाद' फल नहीं सकता। अनासक्त स्थिति समभाव से ही संभव है। अपरिग्रह समतावाद की स्थापना करता है। समतावादी समाज की संरचना से ही अपरिग्रहवाद फलता-फूलता है और मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व/संघर्ष का विसर्जन होकर आनंद की बहार का सर्जन होता है।

● ●

मानव-संस्कृति के विकास में श्रमण संस्कृति (जैन धारा) की भूमिका

–डॉ. रवीन्द्र जैन डी. लिट्

प्रास्ताविक–मानव जाति का संस्कृत (परिष्कृत) भावात्मक एवं रूपात्मक कृतिपुंज संस्कृति है। संस्कृति चिर विकासशील एवं अविभाज्य है। संस्कृति को सम्पूर्ण मानव जाति की समन्वयात्मकता एवं अखण्डता के फलक पर रखकर ही पूर्णतया समझा जा सकता है। सम्पूर्ण मानव जाति एक अविभाज्य इकाई है; उसे धर्म, भूमि और जाति आदि की संकीर्ण सीमा में रखकर आंशिक एवं भ्रामक रूप से ही समझा जा सकता है। अल्वर्ट आइन्स्टाइन का कथन है कि, 'संस्कृति का पौधा अत्यन्त सुकुमार होता है। अनेक प्रयत्नों और सावधानियों के बाद ही वह किसी समाज में फूलता-फलता है। उसके लिए व्यक्ति का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान और जाति का अभिमान सबको तिलांजलि देनी पड़ती है। संस्कृति के अन्तर्गत मानव जाति का समग्र जीवन गर्भित है, परन्तु प्रमुख रूप से उसकी भावनात्मक एकता, नैतिक एवं कलात्मक जिजीविषा को स्थान दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति मानव को ऊँचा उठाने वाली कृतियों का समन्वय है।''

संस्कृति की परिभाषा–प्रायः अंग्रेजी भाषा के कल्चर शब्द के पर्याय के रूप में संस्कृति शब्द समझा जाता है। जिस प्रकार एग्रीकल्चर अपनी भावात्मक एकता को प्राप्त कर कल्चर बन गया; अथवा कल्चर अपनी स्थूलता में एग्रीकल्चर बन गया, हमारी भौतिक जिजीविषा भी अन्ततः परिष्कृत होकर कल्चर बनी।

संस्कृति शब्द में भी कृषि या कृष्टि निहित है। बंगाल में कृष्टि शब्द का प्रयोग आज भी कृषि के लिए होता है। आशय यह है कि पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में जो आत्यन्तिक स्थिति है वह एक ही है; वे मूलतः एक हैं। कालिक प्रभाव से पश्चिम ने यथार्थ, उपयोगिता एवं इहलौकिकता को अधिक महत्त्व दिया तो पौर्वात्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारा ने अध्यात्म, आदर्श एवं नैतिक जीवनदृष्टि को। आज दोनों एक दूसरे के बलाबल को समझ रहे हैं।

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का है। सम् उपसर्ग पूर्वक कृ करणे धातु से सुट् का आगम करके तिन् प्रत्यय मिलाने पर संस्कृति शब्द बनता है। संस्कृति का सीधा और सहज अर्थ है–सम्यक् रीति से किये गये कार्य–अर्थात् परिष्कृत कार्य।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार[१]–"The training and refinement of mind, tastes and manners; the condition of being thus trained and refined; the intellectual side of civilisation, the acquainting ourselves with the best that has been known and said in the world." अर्थात् मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहार की शिक्षा और शुद्धि, इस प्रकार शिक्षित और शुद्ध होने की प्रक्रिया, सभ्यता का बौद्धिक पक्ष, विश्व की सर्वोत्कृष्ट कथित और ज्ञात वस्तुओं से स्वयं को परिचित कराना संस्कृति है।

आप्टे की संस्कृत डिक्शनरी के अनुसार संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार है[२]–To adorn, grace, decorate, (2) to refine, polish, (3) to purify, (4) to consecrate by repeating mantras, (5) to cultivate, educate, train, (6) make ready, proper, equip, fitout, (7) to cook food, (8) to purify-cleanse, (9) to collect, heap together. अर्थात्–सजाना, संवारना, पवित्र करना–होना, सुशिक्षित करना आदि।

डॉ. सम्पूर्णानन्द की संस्कृति सम्बन्धी मान्यता भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे एक प्रशस्त क्रान्तचेता के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। उनके अनुसार[३], "वस्तुतः संस्कृति पद्धति, रिवाज या सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संस्था नहीं है। नाचना-गाना, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, गृहनिर्माण इन सबका अन्तर्भाव सभ्यता में होता है। संस्कृति अन्तःकरण है, सभ्यता शरीर है। संस्कृति सभ्यता द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है। संस्कति वह साँचा है जिसमें समाज के विचार ढलते हैं; वह बिन्दु है जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं।"

चर्चित सभी परिभाषाओं का मथितार्थ यह है कि हमारी जीवन-साधना का साररस ही संस्कृति है अर्थात् हमारी दृढ़ीभूत चेतना-प्रेरक-जीवन की आन्तरिक पद्धति ही संस्कृति है। छान्दोग्योपनिषद् में संस्कृति के व्यापक स्वरूप की व्याख्या स्थायी महत्त्व की है। विश्व की सभ्यताओं का उन्नयन एवं पतन संस्कृति की तुला पर रखकर ही समझा जा सकता है। "कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीव व्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्त्व दृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानी समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योतकर्षः पर्यवसति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षी मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः सेतुर्विधतिरेषां लोकानामसंभेदाय।"[४]

अर्थात् किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मूल्यांकित किया जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संगठित किया जाता है।

मानव-संस्कृति का सातत्य–जातिगत, धर्मगत एवं भूमिगत संकीर्ण प्रतिबद्धता को त्यागकर ही विश्वव्यापी मानव-संस्कृति की अखंड धारा को समझा जा सकता है। संस्कृति किसी भी देश या जाति की प्रबुद्ध आन्तरिक चेतना की वह स्वस्थ एवं मौलिक विशेषता है जिसके आधार पर विश्व के अन्य देशों में उसका महत्त्वांकन होता है। आज किसी भी देश की संस्कृति ऐसी नहीं है जो अन्य देशों की संस्कृतियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित एवं पुष्ट न हो। सजीव संस्कृति सदा उदार एवं ग्रहणशील होती है। संस्कृति सदा एक विकासशील संस्था के रूप में रहकर ही किसी देश या जाति के गर्व का कारण बन सकती है। कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ प्रत्येक संस्कृति के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व भी होते हैं। जो संस्कृति कम ग्रहणशील होती है, या अतीतोन्मुखी होती है, धीरे-धीरे वह अपना चैतन्य महत्त्व खोकर मात्र ऐतिहासिक संस्था बनकर रह जाती है। किन्तु इतिहास में भी सातत्य और परिवर्तनशीलता का प्रवाह या क्रम चलता ही रहता है। संस्कृति में भी यही क्रम नितान्त वांछनीय है। संस्कृति में वर्तमान का योग और भविष्यत् की सम्भावनाएं सदा अपेक्षित रहती हैं। वह पुरातन और नवीन का सुन्दर समन्वय है, मात्र प्राचीन उपलब्धियों भी व्याख्यायिका नहीं है।

"हिन्दूसच, जैनसच, बौद्धसच, ईसाईसच या मुस्लिमसच जैसे बोल पढ़े लिखे लोगों को ही नहीं, अनपढ़ को भी बेमतलब जचेंगे। काश ऐसा ही हिन्दू संस्कृति, जैन-संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति इत्यादि बोलों के साथ भी होता। हमारे कान इन बोलों को भी बे-मतलब समझते होते, तो आज मनुष्यों की आत्माएँ कहीं ज्यादा मंजी हुई मिलती, दुनियां के आदमी कहीं ज्यादा सुखी पाये जाते। संस्कृति को मानव संस्कृति के ही नाम से पुकारना ठीक जँचता है।"[५]

आज के विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिकों और विचारकों का यह सुस्पष्ट मत है कि संसार की सभी जातियाँ मूलतः एक ही परिवार की शाखाएँ हैं। जलवायु की भिन्नता के कारण भाषा, रहन-सहन एवं रूप-रंग में कुछ अन्तर अवश्य है। यह बाहरी अन्तर है और इसके होते हुए भी भाव, विचार, विश्वास, अनुभूति, आदर्श एवं आकांक्षाओं में समस्त मानव जाति में विलक्षण समानता है। यही भीतरी समानता निर्णायक होती है। विश्व के कतिपय प्रमुख देशों की सांस्कृतिक विशेषताएँ धीरे-धीरे सभी देशों में आत्मसात् कर ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गयी हैं। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं के केन्द्र भारत (सिन्धु), ईरान, सुमेर, बेबीलान, असीरिया, सीरिया और मिश्र रहे हैं२३। इनकी संस्कृतियों में अद्भुत समानता है और परस्पर आदान-प्रदान भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के सहज मेल से बनी है। उसमें बाह्य अनेकता (रूप, रंग, भाषा, रहन-सहन) में आन्तरिक (भावात्मक) एकता निहित है। संस्कृति में आन्तरिक गुणों पर ध्यान दिया जाता है, वे ही विश्वसनीय होते हैं। एक व्यक्ति सुसभ्य होकर भी असंस्कृत हो सकता है, जबकि दूसरा व्यक्ति असभ्य होकर भी सुसंकृत हो सकता है। सभ्यता बाह्य और बौद्धिक होती है, जबकि संस्कृति आन्तरिक एवं भावात्मक होती है। वस्तुतः सभ्यता का विकास संस्कृति-सापेक्ष होना चाहिए, परन्तु बहुधा ऐसा नहीं हो पाता है। मानव बाह्य उपलब्धियों और आकर्षणों में उलझकर रह जाता है। सभ्यताएँ नष्ट हो जातीं हैं, पर संस्कृति चिर प्रवहमान रहती है। सभ्यता संस्कृति से संलग्न रहने पर कभी नष्ट नहीं होती।

संस्कृति और सभ्यता–असली संस्कृति मानव की परिष्कृत भीतरी सद्भावना और नैतिक परिष्कार है और असली सभ्यता उसका बाहरी विस्तार है। संस्कृति की पूर्णता उसके सभ्यतापरक विकास में है। संस्कृति आत्मा है और सभ्यता उसका शरीर। जब आत्मा के मूलगुणों के अनुसार शरीर का (सभ्यता का) विकास होता है तो मानव (व्यक्ति) और मानव जाति का जीवन सात्त्विक और सुखमय होता है। जब आत्मा के विपरीत सभ्यता अपना मनमाना (हिंसा, अपहरण, स्वार्थ आदि पर आधारित) विस्तार करती है, तब वह अशान्ति और दुःख का कारण बनती है। विश्वभर के युद्धों के मूल में यही सभ्यताओं की अहम्मन्यता की टकराहट है। वस्तुतः संस्कृति से सभ्यता का जन्म होता है और सभ्यता से संस्कृति का विस्तार होता है। स्पष्ट है कि ये दोनों अविभाज्य हैं और एक दूसरे की प्रेरक एवं पोषक हैं। आज का सांस्कृतिक संकट यह है कि विश्वभर में सभ्यतापरक (बाह्य-भौतिक) विकास बहुत तेजी से और बहुत अधिक हो रहा है। यह विकास ईर्ष्यामूलक स्पर्धा और शत्रुता से भरा हुआ है। प्रायः सभी देशों ने नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे दी है। एक दूसरे पर अपनी वरिष्ठता सिद्ध करने के लिए जघन्यतम हिंसक साधनों को अपनाया जा रहा है। भीतरी नैतिक गुणों से नाता टूट जाने पर सभ्यता ऐसी ही घातक हो जाती है। वह अपनी मां की (संस्कृति की) हत्या भी कर देती है।

चीन ने हमें चीनी (शक्कर), चीनी मिट्टी के बर्तन, पतंग, कागज, कंदील, छज्जेदार शेप, संतरा, कमरख, लीची और आतिशबाजी देकर सम्पन्न बनाया। चीन के दार्शनिक भी हमारे महावीर और बुद्ध के समान प्रसिद्ध थे। दार्शनिक दृष्टि, मूर्तिकला, वास्तुकला और आध्यात्मिक साधना भारत ने सम्पूर्ण एशिया और यूरोप को दी। ज्योतिष, आयुर्वेद, अंक (१, २, ३, ४ आदि), दशमलव सिद्धान्त भी भारत ने सारे विश्व को दिया। पूरे आठ सौ वर्षों तक लगभग आधे यूरोप पर अरबों का शासन रहा। अरबों का यूनानी वैद्यक का सिलसिला बेहद विकसित हुआ। भारत में मुगलों ने इसे बहुत अपनाया। यूरोप में इसका प्रभाव बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक रहा। ईरान ने भारत को गुलाब जैसा फूल और अंगूर जैसा फल दिया। ईरान ने ही अतिथि सत्कार और दानशीलता के कीर्तिमान भी स्थापित किये। मुस्लिम एकेश्वरवाद और भारतीय वेदान्त के मेल से सूफी धर्म तैयार हुआ। काबा और काशी की एकता के गीत इसी भावभूमि का परिणाम हैं। सूमेरी धार्मिक कथाएँ, अक्षर लेखन-कला और लटकते हुए बाग (हेंगिग गार्डन) सुमेरी सभ्यता और संस्कृति की ही विश्व को देन है। सुमेरी सभ्यता से यहूदी सभ्यता ने और यहूदी सभ्यता से पूरे यूरोप ने बहुत कुछ सीखा है। समस्त यूरोप पर रोम का बोलवाला रहा है, पर रोम ने बहुत कुछ यहूदियों से लिया है। मिश्र की भी अद्भुत देन है। वहाँ की भवन-निर्माण-कला, पिरामिड और मीनारें आज भी अद्वितीय हैं। स्वेज नहर इसी देश ने ईसा से तेरह सौ वर्ष पहले बनवाई थी। इस नहर की सहायता से ही बड़े-बड़े जहाज लाल सागर और भूमध्य सागर तक जाते थे। अफ्रीका, एशिया और यूरोप को जोड़ने वाली यही नहर थी। यूनान ने कला, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में विश्व को अनुपम ज्ञान दिया। अरस्तू को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का पिता कहा जाता है। मिश्र के सम्राट इखनातन की सादगी और त्याग का आदर्श संसार में आज भी अनुपम है। इखनातन ने ही देशों में मैत्री और सद्भाव का प्रचार किया। अनाक्रमण की नीति भी उसी ने अपनायी। अरब के खलीफा उमर की सादगी का आदर्श आज भी बेजोड़ है। जब पहली बार कांग्रेस का मंत्री मंडल बना था, तो गाँधी जी ने देश के नेताओं के समक्ष खलीफा उमर का आदर्श रखा था। खलीफा उमर का साम्राज्य रोम और यूनान के साम्राज्य से बड़ा था, फिर भी खलीफा मोटी खद्दर का कुर्ता पहनता था। प्रतिदिन अपने कंधे पर मशक भरकर गरीब विधवाओं को पानी देता था।

आज वैज्ञानिक आविष्कारों (बिजली, तार, टी. वी., एक्सरे, अणुशक्ति आदि) ने हमारा जीवन ही बदल दिया है। क्या हम इसके लिए अमेरिका, रूस, फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी एवं जापान आदि देशों के आभारी नहीं हैं? क्या हम इस परिवर्तन से अछूते रह सके हैं। क्या विज्ञान ने हमारी जीवन-दृष्टि को प्रभावित नहीं किया है?

विश्व के इन कतिपय उदाहरणों से मानव रुचि, स्वभाव एवं जिजीविषा की मूलभूत एकता ही प्रकट होती है। मानव का भावात्मक ऐक्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। प्रत्येक देश और जाति की सांस्कृतिक चेतना को इस सन्दर्भ में तो अवश्य ही समझा जाना चाहिए कि उसने मानव चेतना के ऊर्ध्वीकरण में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह दृष्टि समभाव पर आधारित हो न कि भेदभाव पर। आत्म प्रशंसा और बलात् छिद्रान्वेषण से दूर रहकर ही ऐसा किया जा सकता है। इसी निष्कर्ष पर हम श्रमण-संस्कृति की जैन धारा का मूल्यांकन कर सकते हैं।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण-संस्कृति-स्वरूप एवं तत्त्व

यद्यपि इतिहास अपने तथ्यमूलक आधार पर जैनधर्म के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक ही अपनी पहुँच रखता है; परन्तु श्रमण-परम्परा आज से लाखों वर्ष पूर्व आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से ही प्रारम्भ होती है। यह आस्थामूलक मान्यता है। जैन पुराणों में एतादृश वर्णन है। हम ऐतिहासिक चक्र में न पड़कर सम्प्रति इतना ही मानलें कि श्रमण-संस्कृति व्यवस्थित रूप से पार्श्वनाथ के समय में थी। भारतवर्ष सामान्यतः अनेक संस्कृतियों का संगम-स्थल है, किन्तु भारतीय-मूल की संस्कृतियों के रूप में केवल वैदिक एवं श्रमण (वैदिकेतर) संस्कृति को ही स्वीकार किया गया है। श्रमण धारा के अन्तर्गत जैनों एवं बौद्धों का साहित्य लिया जाता है तथा वैदिक धारा में इतर सब साहित्य लिया जाता है। यह स्थापना या मान्यता सर्वथा निर्दोष नहीं है। श्रमणों के जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक आदि अनेक सम्प्रदाय थे। सांख्य दर्शन भी वैदिक धारा का विरोधी था। वैदिक धारा को आर्यों की धारा कहा जाता है और आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में द्रविड़ सभ्यता थी, श्रमण धारा थी। अतः श्रमण धारा की प्राचीनता को सहज ही समझा जा सकता है। यहाँ मेरा उद्देश्य देन पर विचार करना है, न प्राचीनता पर।

भारत में और सम्पूर्ण एशिया में अध्यात्म प्रधान श्रमणधारा पूर्वतः चली आ रही थी; वैदिक धारा भी अपने व्यापक स्तर पर चली; परन्तु धीरे धीरे वह ऋषिमूलक अर्थात् यज्ञ एवं कर्मकाण्ड मूलक होकर रह गयी। उसमें पशुहिंसा बलवती हो गयी। उसकी शाखाओं में अन्तर्विरोध उत्पन्न हुआ। उपनिषदों में विशुद्ध अध्यात्म एवं ज्ञान की चर्चा है। उनमें ज्ञान की सर्वोपरिता, स्वीकार की गयी है। उपनिषदों का यह दृष्टिकोण अपना निजी हो सकता है, परन्तु इसके भी प्रमाण हैं कि उस समय प्रचलित श्रमण धारा ने भी इसे प्रभावित किया है। प्रभाव ग्रहण करना और दूसरों से वरेण्य को लेना यह सहज प्रवृत्ति है। स्पष्ट है कि श्रमण धारा मुनियों और सन्तों की धारा के रूप में विकसित हुई, तो अन्य धाराएँ ऋषियों की धाराओं के रूप में। यह ऋषि-मुनि का एक कालिक एवं घटनात्मक अन्तर था।

श्रमण-संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। अहिंसा और वैचारिक समभाव के माध्यम से मानव आत्मा की विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। इसी जीवन-दृष्टि के आधार पर समस्त मानव जाति इस संसार में भी समता, सुख और शान्ति से रह सकती है। यही इस संस्कृति की अन्तरात्मा है। बौद्धों और जैनों में प्रायः स्थूल स्तर पर एकता थी। वे कर्मकाण्ड, यज्ञ और पशुबलि के समान रूप से विरोधी थे। ईश्वरवाद के भी वे समर्थक न थे। उनकी विरोधात्मक दृष्टि में सीमित समानता थी। उनमें अहिंसा का भी सीमित साम्य था। बौद्ध धारा में मांसाहार का अवकाश था और आचरण पर भी उतना बल न था। विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म पर्याप्त व्यापक किन्तु शिथिल भी हो गया। विदेशी वातावरण के साथ उसने काफी समझौता भी किया। श्रमण-साधु, मुनि और सन्तों की परम्परा पर श्रमण-संस्कृति आधारित है। तमिलनाडु में जैन मात्र को समनार कहा जाता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्रावकों की भी श्रमण-संस्कृति में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

श्रमण शब्द में तीन शब्द गर्भित हैं—श्रम, सम, शम। अर्थात् निष्ठापूर्ण साधना, प्राणीमात्र के प्रति समत्व की भावना और परम शमात्मक मनोभावमय जीवन ही श्रमण-आदर्श रहा है। आधुनिक युग के प्रख्यात विचारक एवं नेता क्रोपाटकिन, मार्क्स एवं महात्मा गांधी ने अपने-अपने ढंग से मानव जाति का विकास माना है। महात्मा जी की प्रक्रिया श्रमण धारा को आत्मसात् करके चली है।[७] "सन् १९४६ में आगा खाँ ने पूना में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर बातचीत करने के बाद महात्मा जी से पूछा—"मार्क्स के दर्शन के विषय में आपकी क्या सम्मति है?" महात्मा जी ने तुरन्त ही उत्तर दिया—मेरा आदर्श वही है जो मार्क्स का था, यानी शासन का सूखी पत्तियों की तरह झड़ जाना, लेकिन मैं यह यकीन नहीं करता कि मार्क्स के तरीके से हम कभी भी अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे—यानी तमाम सरकारों का खात्मा हो जाएगा—बल्कि उसके विपरीत मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा तथा अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि के अनुसार काम करने से ही हम अपने लक्ष्य पर पहुँचेंगे। उसी से शासन झड़ जाएंगे। किसी समाज की सभ्यता की यह कसौटी नहीं है कि उसने प्राकृतिक शक्तियों पर कितनी विजय प्राप्त कर ली है; और न साहित्य तथा कला में पारंगत होना ही उसकी कसौटी है; बल्कि उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक वर्ताव में तथा प्राणीमात्र के प्रति कितनी करुणा, उदारता या मैत्री है। बस यही उदारता की सबसे बड़ी कसौटी है।"

स्पष्टबोध एवं वर्गीकरण की दृष्टि से श्रमण-संस्कृति के मूल संघटक तत्त्व ये हैं—

१. आध्यात्मिकता, २. अहिंसा, ३. अनेकान्त, ४. अपरिग्रह, ५. शील, ६. समता, ७. सैद्धान्तिक दृढ़ता- निजविवेक, ८. आस्तिकता, ९. कर्मसिद्धान्त एवं वस्तु स्वातन्त्र्य, १०. लोकजीवन।

उक्त दशलक्षणी या दश तात्त्विक श्रमण-संस्कृति के ये सभी लक्षण संश्लिष्ट एवं अविभाज्य हैं। व्यवहार दृष्टि से ही विवेच्य हैं।

अध्यात्मदृष्टि—जैनधर्म अपनी सम्पूर्णता में अध्यात्म प्रधान धर्म है। उसकी संस्कृति, दर्शन एवं समस्त आचार-व्यवहार भी मूलतः और अन्ततः अध्यात्मपरक है। आध्यात्मिक एवं नैतिक विशुद्धता को श्रमण-धारा में सर्वोपरि स्थान है। आत्मा की निर्विकार अवस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएगी, मानव उतना ही स्वतन्त्र और परमात्मत्वमय बनता जाएगा। अतः बाह्य आडम्बर और क्रिया कांड से बचने का श्रमण सदा आदेश देते हैं।

आत्मा का स्वरूप—अजरामर चैतन्यशक्ति ही आत्मा है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अथवा जीव स्वतन्त्र अस्तित्व वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य है। समस्त द्रव्यों में जीव सर्वश्रेष्ठ है। आत्मा एक नहीं अनन्त हैं। आत्मा का चैतन्य ज्ञान, भाव शक्ति एवं क्रिया रूप में प्रकट होता है। आत्मा सहज रूप से ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। आत्मा संसार में रहकर सुख-दुःखात्मक शुभ-अशुभ कर्मों को भोगता रहता है। मुक्त हो जाने पर वह परम निर्विकार एवं स्वतन्त्र हो जाता है। प्रत्येक आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है अतः वह पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। प्रत्येक आत्मा सिद्ध-स्वरूप है। साक्षात् सिद्ध भगवान् सिद्ध (कर्ममुक्त) हैं और अन्य प्राणी कर्मयुक्त संसारी हैं। कर्म के आवरण को अलग करके देखने पर प्रत्येक आत्मा सिद्धतुल्य है। प्रत्येक आत्मा अपने सुख-दुःख एवं उत्थान-पतन का स्वयं अधिकारी एवं उत्तरदायी है। किसी ईश्वरीय शक्ति का इसमें कोई योग नहीं है।

आध्यात्मिक धरातल पर आत्मा या जीव को तीन प्रकार का माना गया है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। संसारलिप्त और शरीर को ही आत्मा समझने वाला जीव बहिरात्मा है। संसार से स्वयं को पृथक समझने वाला दृढ़ निश्चयी जीव अन्तरात्मा है और परम पद प्राप्त व्यक्ति (जीव) परमात्मा कहलाता है।

''एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं''[८]

अर्थात् शरीर से पृथक आत्मा है, अतः भोगलिप्त शरीर को तपश्चर्या द्वारा धुन डालना चाहिए।

स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति में जीवात्मा के आन्तरिक सहज गुणों को ही महत्त्व दिया गया है।

आध्यात्मिक एवं नैतिक विशुद्धता को श्रमण धारा में सर्वोपरि स्थान है। अध्यात्म की रीढ़ अहिंसक-जीवन है।

अहिंसा–सार्वभौम सहअस्तित्वमय निरापद जीवन के प्रति सद्भावमय जीवन दृष्टि अहिंसा है। किसी भी प्राणी को मन, वाणी और क्रिया से किसी भी प्रकार का (भावात्मक या शारीरिक) दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखना, यह अहिंसा का क्रियात्मक रूप है। इसके अन्तर्गत अन्य प्राणियों की रक्षा-सुरक्षा का भाव समाहित है। समस्त श्रमण जीवन का आचार अहिंसा-मूलक है और विचार अनेकान्तात्मक है। अहिंसा की पूर्णता के लिए यह भी परमावश्यक है कि हम स्वयं तो अहिंसक रहें ही, परन्तु दूसरों के द्वारा भी हिंसा न कराएँ तथा ऐसी हिंसा का अनुमोदन भी न करें। प्राणीमात्र की स्वत्रता और प्राणरक्षा का पूरा ध्यान रखकर ही हमें अपना जीवन निर्धारित करना चाहिए।

''सव्वे पाणा पियाउया, सुह साया, दुक्ख पड़िकूला अप्पियवहा।
पिय जीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं॥''[९]

अर्थात् समस्त जीवों को अपने प्राण प्रिय हैं, वे सुख चाहते हैं। दुख नहीं। सब जीने की इच्छा रखते हैं।

दशवैकालिक की यह गाथा भी श्रामणिक अहिंसा का सशक्त उद्घोष करती है–

''सव्वे जीवा इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, णिग्गन्था वज्जयन्ति णं॥''[१०]

अर्थात् सभी जीव जीवन चाहते हैं, मरण नहीं। अतएव निर्ग्रन्थ मुनि घोर प्राणिवध का त्याग करते हैं।

इसी अहिंसक दृष्टि की आवश्यकता आज के मत्स्यन्याय-जीवी जगत को है।

''धर्म का मौलिक रूप अहिंसा''[११] है, सत्य, अचौर्य आदि उसका विस्तार है–''अवसेसा तस्स रक्खहा''–शेष व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं। अहिंसा की पूर्णता के लिए हमें अपनी प्रत्येक गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिए। हमें शास्त्रनिर्दिष्ट आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी हिंसा से विरत होना चाहिए। ये चारों हिंसक प्रणालियाँ क्रमशः अधिकाधिक अनिष्टकर एवं घातक है। मानव सभ्यता का इतिहास लगभग दस हजार वर्ष का है। इस कालावधि में मानव ने क्रमशः सभ्यतामूलक (सांसारिक) विकास बहुत अधिक किया है। उसने जल, थल, नभ को निचोड़ डाला है। समस्त संसार को क्षण भर में ध्वस्त करने की भी उसने शक्ति प्राप्त करली है। भौतिक सुविधाओं की दिशा में उसने आज स्वर्ग को भी उपहसित कर दिया है। उसने प्रकृति की सम्पूर्णता पर विजय पाने का दावा किया है, पर वह मानव–आज का मानव स्वयं से–अन्तरात्मा से–अपनी संस्कृति से उतना ही अधिक कटता और दूर होता चला गया है। विश्व ध्वंस में पूर्ण समर्थ परमाणु-बम-रूपी ज्वालामुखी पर आज विश्व-मानवता बैठी हुई है। कभी भी विस्फोट हो सकता है। आशय यह है कि आज अहिंसा की विश्व को गत युगों की तुलना में बहुत अधिक आवश्यकता है। आध्यात्मिक मूल्यों का पुनर्जागरण आज पूर्णतया अपेक्षित है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के मूल तत्त्व को उद्घाटित करते हुए कहा है–''मानव में जीवन-संचार किसी न किसी हिंसा से होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। यह शब्द संहार की संकडी में बंधा हुआ है। दूसरे शब्दों में यह है कि शरीर में जीवन-संचार के लिए हिंसा स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। इसी कारण अहिंसा का पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो।''[१२]

हिंसा धर्म और समाज में भी समय-समय पर नये-नये रूप धारण कर प्रविष्ट होती रही है। श्रमण महावीर के युग में स्थिति ऐसी ही थी। धर्माधिकारी धर्म की हिंसामूलक व्याख्या कर रहे थे। समाज सुधारक भी वर्गवाद, छुआछूत, नारी के प्रति हीन भावना तथा नर-शोषण के अनेक उपाय निकाल रहे थे। महावीर ने इस सबके विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद किया। वे एक विराट् सांस्कृतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नव चेतना को लेकर आए। जैन धर्म की सांस्कृतिक देन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं–[१३] "भारतीय सभ्यता को जैनधर्म की सर्वोच्च मूल्य की देनें हैं–प्रत्येक जीवधारी के प्रति उदारता और तपस्या, वस्त्रत्याग तथा उपवासादि के प्रति विश्वजनीन भावना; यह बात केवल साधुओं ने ही नहीं, श्राविकाओं ने ही नहीं, किन्तु जन-सामान्य ने भी स्वीकार की।

सुप्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' के ३३वें परिच्छेद में अहिंसा के विषय में ये मर्मस्पर्शी वचन कहे गये हैं–[१४]

सब धर्मों में श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।
हिंसा के पीछे लगे, पाप भरे सब कर्म॥१॥
जिनकी निर्भर जीविका, हत्या पर ही एक।
मृत-भोजी उनको विबुध, माने हो सविवेक॥९॥

जैन परम्परा ने अहिंसा का वास्तव में सम्पूर्ण विश्व को अनोखा वरदान ही दिया है। इतनी गहरी, बहुमुख, सूक्ष्म, व्यावहारिक एवं निश्चयात्मक दृष्टि अन्यत्र दुर्लभ है। जैन-अहिंसा के आध्यात्मिक पक्ष के साथ उसके व्यावहारिक और आचारमूलक पक्ष के अन्तर्गत रात्रि भोजन परित्याग, मांसाहार त्याग एवं गालित जल-पान की विशेष चर्चा है।

अहिंसा के व्यापकतम प्रभाव के विषय में आचारांग में अत्यन्त प्रभावकारी विवेचन है–[१५]

"अत्थि सत्थं परेण परं नत्थि असत्थं परेण परं।"

अर्थात् शस्त्र एक से बढ़कर एक हैं। अशस्त्र–अहिंसा से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं। इसका अचूक प्रभाव होता है।

अनेकान्त–अनेकान्त जैनदर्शन का एक प्रतिनिधि पारिभाषिक शब्द है। इसके साथ स्याद्वाद एवं सप्तभंगी शब्द भी जुड़े हैं। इन तीन शब्दों को सही सन्दर्भ में समझकर ही जैन दर्शन को समझा जा सकता है। अनेकान्त शब्द के द्वारा प्रत्येक वस्तु में सापेक्षिक रूप से विद्यमान अनेक अवस्थाओं या सम्बन्धों को समझा जाता है। अनेक (एक से अधिक), अन्त अर्थात् धर्म (अवस्थाएँ), यही इस शब्द का अर्थ है। वस्तु में स्थित सापेक्षिक अवस्थाओं को एक साथ समझकर ध्यान में तो रखा जा सकता है, परन्तु बोलते समय तो एक क्रम अपनाना ही होगा। यही क्रम (विवेचन क्रम) स्याद्वाद शब्द द्वारा स्पष्ट होता है। किसी वस्तु के एक पक्ष को ही एक बार में कहा जाता है। वस्तु-विवेचन के कुल सात भंग (प्रकार) सप्तभंगी शब्द द्वारा द्योतित होते हैं।

वस्तु को व्यवहार की दृष्टि से अनेक सापेक्ष रूपों में देखा जाता है जबकि निश्चयनय (तात्त्विक धरातल पर) अभेदात्मक एक रूप में ही समझा जाता है। अनेकान्त दर्शन में अपनी वैचारिकता के साथ दूसरे व्यक्ति की वैचारिकता को भी सहृदयता और ईमानदारी से समझा जाता है। आज विश्व के अनेक राष्ट्रों में धन-धान्य एवं वैभव का संघर्ष कम है, परन्तु विचारधाराओं की विपरीतता और दुराग्रहशीलता का संघर्ष सर्वाधिक है। रूस और अमेरिका, इंगलेण्ड और दक्षिण अफ्रीका, ईरान और ईराक, तमिल-लंका, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान आदि देशों के संघर्ष में वैचारिक अहंकार की मात्रा सर्वाधिक है। शारीरिक हिंसा की अप्रेक्षा वैचारिक हिंसा (दूसरों के विचारों का दमन) अधिक घातक है। अतः अनेकान्त दर्शन में परमत सहिष्णुता और सद्भावना को बहुत महत्त्व दिया गया है।

सैद्धान्तिक कट्टरता (Dogmatism) की दुराग्रहशीलता का जैन-विचार धारा ने सदा विरोध किया है। वैचारिक स्वातन्त्र्य होने पर ही वैचारिक पूर्णता आ सकती है। वैदिक एवं औपनिषदिक वैचारिकता में स्पष्ट टकराहट है। कर्मकाण्ड का गीता में भी विरोध परिलक्षित होता है। पश्चिम में और विशेष रूप से ग्रीस में तो सुकरात जैसे स्वतन्त्र और निर्भीक विचारकों की आज भी विश्व पर छाप है। सुकरात के मृत्यु का वरण किया, किन्तु अपने विचार नहीं बदले। उसने कहा,[१६]

"There are many ways of avoiding death in every danger if a man is not ashamed to say and to do anything. But, my friends, I think it is a much harder thing to escape from wickedness than from death, for wickedness is swifter than death."

अर्थात् मनुष्य यदि इतना बेशर्म हो जाए कि वह मृत्यु से बचने के लिए कुछ भी बोलने और करने के लिए तैयार है, तो मृत्यु को टाला जा सकता है। परन्तु, मित्रो, दुष्टता की अपेक्षा मृत्यु से बच निकलना सरल है, क्योंकि दुष्टता की चाल मृत्यु से अधिक तेज होती है।

सुकरात ने अपने हत्यारों से मरने के पहले कहा,[१७]

"It is much better, and much easier, not to silence reproaches, but to make yourselves as perfect as you can. This is my parting prophecy to those who have condemned me."

अर्थात् अपने विरोध को दमित न करना अधिक सरल और श्रेयस्कर होगा, बल्कि खुद को अधिकाधिक निर्दोष एवं पूर्ण बनाना चाहिए। यह मेरी मृत्यु के पूर्व की भविष्यवाणी उन लोगों के प्रति है जिन्होंने मुझे दोषी ठहराया है।

सुकरात का समय आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का है। उस समय कितनी वैचारिक असहिष्णुता थी। दमन से सत्य दबाया तो जा सकता है, समाप्त नहीं किया जा सकता। जैनदर्शन व्यक्तिमात्र की उचित वैचारिकता का स्वागत करता है। वह समन्वयवादी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद में किसी वस्तु के सम्भव (सात) पक्षों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है। घट का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं–

१. स्यादस्ति घटः (घट सापेक्षरूप से विद्यमान है)
२. स्यान्नास्ति घटः (घट सापेक्षरूप से विद्यमान नहीं है)
३. स्यादस्ति नास्ति च घटः (घट सापेक्ष रूप से विद्यामान है, नहीं है)
४. स्यादवक्तव्यः घटः (घट सापेक्ष रूप से अवक्तव्य है)
५. स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घटः (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान है और अवक्तव्य है)
५. स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घटः (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान है और अवक्तव्य है)
६. स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च घटः (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान नहीं है और अवक्तव्य है)
७. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च घटः (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान है, नहीं है और अवक्तव्य है।

प्रत्येक वस्तु के सापेक्ष दृष्टि से अनेक पक्ष होते हैं। अतः उनका एकान्तिक कथन संभव नहीं है। जैन-दर्शन का विश्व की चिन्तनधारा में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अपरिग्रह–अहिंसक आचरण मनुष्य में विशाल लोकचेतना जागृत करता है। इस आचरण के फलस्वरूप असंग्रह की भावना का उदय होता है। व्यक्तिगत सुख का अधिकतम त्याग मानव में जागृत होता है। मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास संग्रह और असंग्रह या गरीबी और अमीरी का है। कबीलावाद, साम्राज्यवाद सामन्तवाद और पूँजीवाद की लम्बी कारा में मानव कैद रहा है। आज वह पूँजीवादी व्यवस्था का शिकार है। यह निर्धन और धनवान का संघर्ष चिरन्तन-सा लगता है। मानव दूसरों के अधिकारों और जीवन साधनों को छीनकर सुखी होने का प्रयत्न करता है, परन्तु सम्पूर्ण मानव समाज की दृष्टि में वह मृत तुल्य हो जाता है। वह असामाजिक होकर जी नहीं सकता। अतः श्रेयष्कर यही है कि हम अपने जीवन को अधिकाधिक आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र बनाएँ। यह कार्य असंग्रह या अपरिग्रह द्वारा ही संभव है।

अधिकाधिक धन सम्पत्ति का छल-कपट से संग्रह तो परिग्रह और सामाजिक अपराध है ही, इस सबके प्रति जो भीतरी रागात्मकता है वह सबसे अधिक घातक है। एक भिक्षुक घोर दरिद्र होकर भी सम्पत्ति आदि के प्रति आसक्ति के कारण परिग्रही है। दूसरी ओर एक चक्रवर्ती जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रहने पर अपरिग्रही है। बात ईमानदारी की है। संसार के सभी धर्म त्याग और अपरिग्रह को महत्त्व देते हैं। पर जैन धर्म ने इसे बहुत अधिक और गहरी मान्यता दी है। जैन मुनि परम अपरिग्रही (नग्न) और विशुद्ध रूप से आत्मनिर्भर रहते हैं। आहार में भी परम संयमी होते हैं। यह अपरिग्रह भाव, सर्वव्यापी हो, यही भावना श्रमण संस्कृति में व्याप्त है। लोभ और मोह के प्रभाव में मानव के महान् गुण भी प्रकट नहीं होते। उसकी चेतना पर पर्दा पड़ा रहता है। यही संग्रह, अतिसंग्रह की भावना विश्वयुद्धों का कारण बनती है। अतः संसार के लाखों सम्राटों, राजाओं और पूँजीपतियों के जीवन का अन्त कैसा हुआ? उनके इतिहास से हम पर्याप्त मात्रा में सबक सीख सकते हैं। मानव का सच्चा सुख बाह्य सम्पदा में न होकर भीतरी गुणों के विकास में है। और गुणों का विकास निर्विकार एवं अपरिग्रही व्यक्ति में ही संभव है। कोरी अनेकान्तात्मक वैचारिक सहानुभूति अकिंचित्कर ही रहेगी यदि उसे अपरिग्रह अर्थात् त्याग के द्वारा पूरा न किया जाए। आचार्यों ने 'मूर्च्छा परिग्रहः' कहा है। मूर्च्छा अर्थात् मानव मन को मूर्च्छित रखने वाले मनोविकार लोभ, तृष्णा और उच्चताभिमान ही परिग्रह हैं। अपरिग्रह आत्मकल्याण और विश्वशान्ति का सर्वोत्तम आधार है। अपरिग्रह आत्मप्रेरित होता है, जबकि समाजवाद राज्य या शासन द्वारा आरोपित किया जाता है। आरोपित की स्थिति से स्वयं-स्वीकृति श्रेयस्कर है।

"भारतीय संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा संयताचरण में है; बाहरी सुसज्जा और वासनापूर्ति में नहीं। जिन भोगोपभोगों में लिप्त हो मानव अपने आप तक को भूल जाता है, वह जरा आँखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग की जितना प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शान्त और उद्‌बुद्ध होगा।"[१८]

शील एवं समता–श्रमण संस्कृति के आदि प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने पंच महावृतों का सूत्रपात किया था। ये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (शील) और अपरिग्रह थे। परवर्ती २२ तीर्थंकरों ने चातुर्याम का (शीलव्रत को छोड़कर शेष चार) ही उपदेश दिया। शील को अपरिग्रह के साथ जोड़ लिया। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने अपने समय में शीलव्रत को पुनः स्वतन्त्र स्थान दिया और पंच महाव्रतों की अविकल स्थापना की।

आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग का वर्णन करते हुए लिखा है– बारह अंगों में आचारांग प्रथम है। उसमें मोक्ष के उपायों का वर्णन है। आचाराङ्ग ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययनमय है। ब्रह्मचर्य का स्पष्ट अर्थ है ब्रह्म अर्थात् मोक्ष के लिए चर्या अर्थात् आचरण। समस्त मोक्षमार्ग ब्रह्मचर्य शब्द में निहित है। धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य शब्द में अर्थ संकोच हुआ और वह मैथुन-विरमण मात्र में सीमित हो गया। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य की महिमा स्वीकार की गयी है। महात्मा गांधी ने लिखा है–[१९] "मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम मात्र नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है–सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन, वचन, कर्म से काम-वासना का त्याग।" इस रूप में वह आत्म् साक्षात्कार या ब्रह्मप्राप्ति का सीधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग है। ब्रह्मचर्य समस्त गुणों की रक्षा करने वाला है और व्यभिचार समस्त गुणों को समाप्त करने वाला है।[२०] दृष्टव्य है–एक बार गौतम गणधर ने श्रमण महावीर से पूछा–'भन्ते ! मैथुन सेवन करने वाले पुरुष में किस प्रकार का असंयम होता है? महावीर ने उत्तर दिया–जैसे एक पुरुष रुई की नली या बूर की नली में तप्तशलाका डाल उसे नष्ट कर दे। मैथुन सेवन करने वाले का असंयम ऐसा होता है।

समता भाव–समता भाव ब्रह्मचर्य के पालन का फलितार्थ है, प्राणीमात्र की आत्मा समान है। अतः सबके प्रति सदा सभी अवस्थाओं में समता भाव रखना श्रेयष्कर है। दूसरों को जाति, विद्या, रूप, धन, पेशा आदि के आधार पर प्रायः हम देखते हैं और छोटा बड़ा समझते हैं। हमें दृष्टि भीतरी गुणों पर और मूल पर रखनी चाहिए। बाह्य संसार तो आडम्बर है और परिवर्तनशील है। मानव ही नहीं जीव मात्र के प्रति समता भाव हो।

सैद्धान्तिक दृढ़ता और निज विवेक–प्रत्येक श्रमण से यह पूरी आशा की जाती है कि वह जिन सिद्धान्तों को पूरी तरह समझकर स्वीकार कर चुका है, उन पर अटल रहे। अपने प्रबुद्ध विवेक के साथा उन पर अमल करे। सिद्धान्त का अन्धानुकरण न करे। देश और काल के बदलने पर सद्विवेक के द्वारा पूर्व मान्यताओं में आवश्यक परिवर्तन या संशोधन भी करे। आशय यह है कि श्रमण लकीर का फकीर न हो। श्रमण महावीर ने अपने समय में चातुर्याम को पंच महाव्रतों में परिवर्धित किया था अनेक धार्मिक-सामाजिक सुधार किये थे। परम्परा और प्रगति का समन्वय श्रमण-चेतना का मूल स्वर है।

अस्तिकता और कर्म सिद्धान्त–जैन परलोक में विश्वास करते हैं। आत्मा के परमात्मत्व को मानते हैं। वे शास्त्रानुगामी हैं अतः आस्तिक हैं। आस्तिकता को किसी खास चौखट में कसना उचित नहीं है। जैन भाग्य और ईश्वर को सृष्टि नियन्ता न मनकर स्वयं मानव को (उसके अच्छे बुरे कर्मों को ही) उसका भाग्य विधाता मानते हैं। मानव अपना जैसा कर्म करता है। तदनुरूप फल भोगता है। बस पुण्य-पाप उसके जीवन को ऊपर नीचे करते रहते हैं।

कर्मवाद समस्त भारतीय चिन्तन में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसका जितना सविकसित रूप जैन शास्त्रों में है उतना अन्यत्र नहीं।

कर्मवाद नियतिवाद नहीं है। जीव कर्म के बन्धन में रहकर अपने पुरुषार्थ से उसे कम करता और काटता भी है। कृत कर्म का फल भोगना ही है, परन्तु नये सत्कर्म करके हम साथ-साथ नयी शक्ति भी ग्रहण कर सकते हैं। प्राणी पर किसी बाह्य या दूसरे के कर्म का शासन नहीं होता, बल्कि स्वकृत कर्म का ही होता है। अतः हम स्वतन्त्र हैं। कर्मों को रोक भी सकते हैं।

कर्म का अर्थ–जैन परम्परा में कर्म शब्द एक पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण किया जाता है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म के भेद से कर्म दो प्रकार के हैं । जो जड़ तत्त्व या कर्म आत्मा के साथ मिलकर कर्म रूप हो जाते हैं, वे द्रव्यकर्म हैं। राग द्वेषमय भाव भावकर्म कहलाते हैं। योग (मन, वाणी, शरीर की प्रवृत्ति) और कषाय (क्रोध, मान, माया लोभ) ही कर्मबन्ध के कारण हैं। ●●

पता–
१३, शान्ति नगर, पल्लावरम्
मद्रास - ६०० ०४३

सन्दर्भ स्थल :

१. "Oxford Dictionary" —*Culture*
२. Apte's Sanskrit Dictionary. —*Culture (संस्कृति)*
३. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ. २२ –*डॉ. सम्पूर्णानन्द*
४. छान्दोग्योपनिषद् (८–४–१) भारतीय संस्कृति प्र. खण्ड पृ. ३ डॉ. मंगलदेव शास्त्री।
५. "जैन संस्कृति का व्यापक स्वरूप" पृ १ –*महात्मा भगवान दीन*
६. "मानव संस्कृति" लेखक–पं. सुन्दरलाल भगवानदास केला की सहायता से पृ. २६२-२७२
७. "मानव संस्कृति" पृ. ६-७ लेखक–भगवानदास केला भूमिका-बनारसीदास चतुर्वेदी
८. आचारांग १-४-२
९. आचाराङ्ग सूक्त (लोक विजय) ३७
१०. दशवैकालिक
११. "अहिंसा तत्त्वदर्शन" पृ. ३–मुनि नथमल
१२. "महात्मा गांधी के विचार" (५–१३८)
१३. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन सिविलीजेशन, पृ. १६२ –*राधाकमल मुखर्जी*
१४. 'तिरुक्कुरल' अनुवादक–पं. गोविन्दराय जैन, परिच्छेद ३३–(१-९)
१५. 'आचारांग'शीतोष्णीय–६९
१६. "Socrates—the man and his teaching." P. 47
१७. "Socrates—the man and his teaching." P. 48
१८. प्रवचन डायरी–"आचार्य तुलसी के ५६-५७ के प्रवचन", पृ. ४९
१९. ब्रह्मचर्य–पृ. ३, शील की नव बाड़–पृ. ५ से
२०. शील की नव बाड़, पृ. ११

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org